

उत्तर लखनऊ पैक्ट का काल तथा हिन्दू साम्प्रदायिकता का उदय

डॉ० रुमा कुमारी

असिस्टेंट प्रोफेसर (गेस्ट फैकल्टी), इतिहास विभाग,
एल०एन०टी० कॉलेज, मुजफ्फरपुर।

काँग्रेस तथा लीग का मैत्री समझौता काफी अल्पकालीन तथा अस्थायी सिद्ध हुआ। 1916 में हुआ यह समझौता गाँधी द्वारा असहयोग आन्दोलन वापस लेने के बाद टूट गया। पिछले कुछ सालों में स्थापित हिन्दू-मुस्लिम एकता एक बार फिर दुश्मनी और विभाजन में बदल गई। 1927 ई. में खिलाफ आन्दोलन धाराशायी हो गया जब टर्की के नये शासनाध्यक्ष ने खलीफा का पद ही समाप्त कर दिया। इस खालीपन में मुस्लिम समुदाय एक बार फिर लीग की तरफ आकर्षित होने लगा। मुस्लिम लीग, जो 1918 से सुसुप्तावस्था में पड़ी थी, एक बार फिर सक्रिय हो गई। इसने सभी राष्ट्रवादी तथा उग्रवादी तत्वों को दल से निकाल दिया। साम्प्रदायिकता तथा निष्ठा इसके मूल आधार बनाये गये। अन्य संगठनों के साथ राजनीतिक गठबंधन साम्प्रदायिक आधारों पर किये जाने लगे। मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठनों द्वारा तंजीम और तबलीग आन्दोलन शुरू किये गये। एक प्रतिक्रिया के रूप में इसी बीच हिन्दू साम्प्रदायिकता भी कट्टरपन्थी रूप लेने लगी। हिन्दू महासभा को 1922-23में फिर से जागृत किया गया। लाजपत राय एन.सी. केलकर जैसे राष्ट्रवादी नेता हिन्दू महासभा के सदस्य बन गये तथा हिन्दू एकता का प्रचार करने लगे। मुसलमानों की 'तन्जीम' तथा 'तबलीग' का जवाब आर्य समाजियों ने 'शुद्धि' तथा 'संगठन' से दिया। हिन्दू महासभा की स्थापना मूलतः एक सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक संस्था के रूप में हुई थी न कि राजनीतिक संस्था के रूप में। 1925 में महासभा के अधिवेशन में मोहम्मद अली तथा अबुल कलाम आजादके अतिरिक्त काँग्रेस के कई नेता सम्मिलित हुए थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में मदन मोहन मालवीय ने तर्क दिया कि यह सोचना गलत होगा कि महासभा एक साम्प्रदायिक संस्था है जिसके हित राष्ट्रवादी काँग्रेस के हितों के साथ टकरायेंगे। मालवीय स्वयं हिन्दू महासभा तथा काँग्रेस दोनों के सदस्य थे। उसने घोषणा की कि 'किसी भी हिन्दू के लिए काँग्रेस का विरोध करना शर्मनाक बात होगी। बल्कि महासभा काँग्रेस के कार्यों को और आगे बढ़ायेगी। काँग्रेस एक राजनीतिक संस्था है और यह सामाजिक एवं गैर-राजनीतिक मामलों (जैसे छुआछूत, अन्तर्जातीय ईर्ष्या, बाल-विवाह आदि) की तरफ अधिक ध्यान नहीं दे सकती। महासभा इन मामलों की तरफ ध्यान देगी तथा हिन्दुओं के हितों की सुरक्षा करेगी।' परन्तु मालवीय द्वारा रेखांकित की गई यह सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका शीघ्र ही राजनीतिक भूमिका में बदल गई। यह हिन्दुओं के लिए एक साम्प्रदायिक

राजनीतिक दल बन गया जैसे कि मुस्लिम लीग मुसलमानों के लिए थी। हिन्दू महासभा में लाजपत राय का काफी दबदबा था जिसने दिसम्बर 1924 में ट्रिब्यून समाचार-पत्र में लिखा था: मेरी योजना के अनुसार मुसलमानों के पास चार प्रान्त होंगे : 1. उत्तर-पश्चिम का पठान प्रांत 2. पश्चिमी पंजाब, 3. सिंध तथा 4. पूर्वी बंगाल। यदि भारत के किसी अन्य क्षेत्र में स्पष्ट मुस्लिम समुदाय हैं जो एक प्रान्त का निर्माण करने में सक्षम हैं, तो उन्हें भी इसी प्रकार गठित किया जा सकता है। परन्तु यह हिन्दू और मुस्लिम में स्पष्ट विभाजन था।¹

1920 के दशक में हिन्दू महासभा लाजपत राय तथा मदन मोहन मालवीय के प्रभुत्व में रही। परन्तु 1928 में लाजपत राय की मृत्यु हो गई तथा 1934 में मालवीय ने राजनीति से सन्यास ले लिया। 1930 के दशक में मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विकराल रूप धारण करने के परिणामस्वरूप हिन्दू महासभा भी वी.डी. सावरकर जैसे चरमपन्थी नेताओं के हाथ में आ गई। समय-समय पर लिखी गई टिप्पणियों, जो बाद में 'हिन्दुत्व' नाम से प्रकाशित हुई, में सावरकर ने भारत में रहने वाले सभी सम्प्रदायों के विरुद्ध केवल हिन्दू सम्प्रदाय पर आधारित राष्ट्रीयता की धारणा स्पष्ट की। उसने कहा कि भारतीय उपमहाद्वीप में केवल हिन्दू अथवा हिन्दू विचारों को ही प्राथमिकता मिलनी चाहिए। उसने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को नकार दिया तथा 1928 में अपने धार्मिक सहयोगियों से अनुरोध किया कि वे काँग्रेस का बहिष्कार करें। ऐसा वह इसलिए चाहते थे ताकि काँग्रेस का बहिष्कार करने की इच्छा जाहिर की, वहाँ उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि 'इसके नेता धूर्त नहीं हैं, वे केवल गलती कर रहे हैं'। सावरकर जिन्ना के इस विचार से सहमत थे कि काँग्रेस अपनी स्थापना से लेकर आज तक एक हिन्दू संगठन रहा है जिसके पीछे हिन्दू विभाग है, हिन्दू पैसा है तथा हिन्दू बलिदान है। हालाँकि काँग्रेस ने कुछ मुस्लिम नेताओं को कभी-कभी अपनी नीतियों पर हावी होने का अवसर दिया है परन्तु वास्तव में वे अस्तित्वहीन हैं और उन्हें एक संयुक्त भारत राष्ट्र के तुच्छ तमाशे को चलाने के लिए मुखौटे के रूप में रखा गया है। सावरकर ने जिन्ना से बहुत पहले द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त का निर्माण कर दिया था।

1937 में हिन्दू महासभा के अधिवेशन में सावरकर ने कहा कि 'भारत की एक एकात्मकवादी तथा समरूप राष्ट्र के रूप में कल्पना नहीं की जा सकती। यह वास्तव में दो राष्ट्र है— एक हिन्दू राष्ट्र तथा दूसरा मुस्लिम राष्ट्र। भारत में ये दो परस्पर विरोधी राष्ट्र साथ-साथ रह रहे हैं।' यह भाग की विडम्बना थी कि 1940 के दशक में जिन्होंने मुसलमानों के लिए अलग राज्य की माँग की, उन्होंने वही तर्क दिया जो सावरकर ने हिन्दू राष्ट्रीयता के समर्थन में दिया था कि हिन्दू तथा मुसलमान इकट्ठे नहीं रह सकते, अतः मुसलमानों को अपना अलग राष्ट्र बना लेना चाहिए। इसी तरह आर्य

समाजी नेता भाई परमानन्द का भी यही विचार था कि काँग्रेस ने बहुसंख्यक समुदाय की अवहेलना की है तथा सावरकर की तरह सभी हिन्दुओं को एक हिन्दू दल के झण्डे तले संगठित होने की अपील की। उसके अनुसार 'जहाँ मुस्लिम मंत्रिमंडल काँग्रेस तथा हिन्दुओं की परवाह किये बिना अपने समुदाय के हितों का ध्यान रखने के लिए स्वतंत्र है, वहाँ काँग्रेस मंत्रिमंडल मुस्लिम-मुखी कार्यक्रमों के साथ बँधे हुए हैं और यह मुस्लिम समुदाय की अमिट साम्प्रदायिक भूख को मिटाने के लिए जरूरत से ज्यादा सचेत रहते हैं।'²

जब हिन्दू महासभा एक राजनीतिक दल बन गई तो 1925 में एक अन्य अर्ध-सैनिक हिन्दू संस्था-भारतीय स्वयंसेवक संघ-अस्तित्व में आ गया। हैडगवार द्वारा नागपुर में स्थापित यह संस्था हिन्दू संस्कृति की पुनरावृत्ति तथा शुद्धता में विश्वास रखती थी। हैडगवार के उत्तराधिकारी गोलवल्कर ने भी गैर-हिन्दू अल्पसंख्यकों के लिए सावरकर के विचारों को अपनाया। उसके अनुसार 'गैर-हिन्दू लोगों को हिन्दू संस्कृति तथा भाषा अपनानी चाहिए, हिन्दू धर्म की इज्जत करनी चाहिए, इसके प्रति श्रद्धाभाव रखना चाहिए तथा हिन्दू नस्ल तथा संस्कृति के उत्थान के सिवाय और कुछ नहीं सोचना चाहिए।' 1940 में जब गोलवल्कर ने पदभार सँभाला तो संघ के पास एक लाख पूर्णतया प्रशिक्षित तथा अनुशासित सेवा दल था। गोलवल्कर चाहते थे कि अल्पसंख्यकों को हिन्दू-राष्ट्र में आत्मसात कर लिया जाए। संघ ने काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग की तरह संघ भी 1942 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' से अलग रहा। इसी तरह 1945 में श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने भी टिप्पणी की कि काँग्रेस की तुष्टीकरण की नीति ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अन्तर को और बढ़ाया है और इस तरह हिन्दुओं के न्यायोचित हितों को भारी नुकसान पहुँचाया है।³

यद्यपि 1938 में काँग्रेस ने यह घोषणा कर दी थी कि हिन्दू महासभा का कोई भी सदस्य काँग्रेस का सदस्य नहीं बन सकता और 1938-45 के बीच एक भी सांप्रदायिक दंगा नहीं हुआ तथापि यह वही अवधि थी जब साम्प्रदायिकता मुसलमानों, हिन्दुओं तथा सिक्खों में काफी तेजी से फैली। यदि मुसलमानों ने यह नारा लगाया कि 'इस्लाम खतरे में है' तो हिन्दू साम्प्रदायिक तत्व भी 'हिन्दुत्व खतरे में' का नारा लगाने से नहीं चूके।

इस दौर में साम्प्रदायिकता की अभिव्यक्ति कई दंगों के माध्यम से हुई। सितम्बर 1924 में उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के कोहाट शहर में जबरदस्त हिन्दू विरोधी दंगे हुए जिसमें 155 लोगों की हत्या हुई। अप्रैल तथा जुलाई 1926 के बीच कलकत्ते में कई साम्प्रदायिक फसाद हुए जिसमें 138 लोगों की जानें गईं। इसी वर्ष डाका, पटना, रावलपिन्डी दंगे हुए। इन सभी दंगों में बार-बार दोहराया जाने वाला एक ही मुद्दा

था—मुसलमान चाहते थे कि मस्जिदों के आगे संगीत पर प्रतिबन्ध लगे तथा हिन्दू चाहते थे कि गौ—हत्या बन्द हो। 23 दिसम्बर 1926 को एक मुस्लिम कट्टरपंथी ने स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या कर दी। 1927 में रंगीला रसूल के लेखक को 18 महीने की कैद के बाद रिहा किया गया। कुल मिलाकर 1922—27 के बीच 112 साम्प्रदायिक दंगे हुए।⁴

सांप्रदायिक दंगे हिंदू—मुस्लिम विभाजन का बाहरी रूप था। असली मुद्दा राजनीतिक था। अपने समुदाय के भविष्य, आकांक्षाओं तथा आर्थिक सुरक्षा को लेकर पैदा होने वाली शंकाओं से दोनों समाज चिन्तित थे। जहाँ हिन्दू समुदाय मुसलमानों की इतर—प्रादेशिक निष्ठा तथा सर्व—इस्लामिक आकांक्षाओं को लेकर चिन्तित था, वहाँ मुसलमानों ने पहले पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों की माँग उठाई और धीरे—धीरे वे मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों में वृद्धि की माँग करने लगे जैसे सिन्ध, उत्तर—पश्चिमी सीमा प्रान्त, बलोचिस्तान, पंजाब, बंगाल, आसाम आदि। इनकी यह भी इच्छा थी कि केन्द्र सरकार अपनी शक्तियों को सीमित करे तथा सभी अवशेष शक्तियाँ प्रान्तों को दे दी जाए। अपने 1925 के अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति की माँग की जो भारत के लिए एक ऐसी उत्तरदायी सरकार की योजना तैयार करे जिसमें सभी विधानसभाओं में अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व मिल सके तथा अल्पसंख्यकों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र निश्चित किये जा सकें।

संक्षेप में हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों साम्प्रदायिक समुदायों की कुछ सांझी विशेषताएँ इस प्रकार थी: दोनों साम्प्रदायिक समूहों को समाज के पतनकारी तथा संकीर्णवादी वर्गों का समर्थन प्राप्त था जैसे जमींदार, सामन्त अथवा राजा—महाराजा। दूसरा, उनका संघर्ष ब्रिटिश शासन के विरुद्ध न होकर आपस में था, उन्हें ब्रिटिश सरकार का अप्रत्यक्ष समर्थन प्राप्त होता रहा। दोनों ने काँग्रेस, जो एक उदारवादी धर्मनिरपेक्ष प्रजातांत्रिक राज्य की धारणा का प्रतिनिधित्व कर रही थी, का विरोध किया तथा घृणा की। दोनों का विचार था कि हिन्दू तथा मुस्लिम पृथक् राष्ट्रीयताएँ हैं। दोनों एक दूसरे से घृणा करते थे, एक दूसरे के विरुद्ध भय का वातावरण फैलाते थे तथा अपनी राजनीति से एक दूसरे को मजबूत करते थे और अन्त में, दोनों प्रजातांत्रिक राजनीति के विरुद्ध थे तथा जाति अनुक्रम अथवा सामन्तवादी व्यवस्था में विश्वास करते थे। तथापि कालान्तरण में जहाँ हिन्दू साम्प्रदायिकता मुख्यधारा के काँग्रेस राष्ट्रवाद का सामना नहीं कर सकी वहाँ मुस्लिम साम्प्रदायिकता अपने लिए एक अलग राष्ट्र का निर्माण करने में सफल रही।

जब विभिन्न राजनीतिक दलों ने साईमन कमीशन का बहिष्कार किया तथा एक सर्वदलीय संविधान बनाने के लिए तैयार हो गये तो हिन्दू—मुस्लिम एकता के आसार एक बार फिर नजर आने लगे। जिन्ना ने एक समझौता प्रस्ताव प्रस्तुत किया। उसका

विचार था कि 'पृथक् निर्वाचन क्षेत्र' की मुस्लिम माँगों को 'अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षित सीटों वाले संयुक्त निर्वाचन क्षेत्र' में बदला जा सकता है यदि केन्द्रीय विधानसभा में 1/3 मुस्लिम प्रतिनिधित्व, पंजाब तथा बंगाल में जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व तथा तीन नये मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों (सिन्ध, बलोचिस्तान तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त) को मान्यता दे दी जाए। यह पेशकश 1927 के मुस्लिम लीग के अधिवेशन में भी दोहराई गई। काँग्रेस जिन्ना की काफी माँगें मानने को तैयार थी परन्तु पंजाब तथा महाराष्ट्र से हिन्दू साम्प्रदायिक दबाव बहुत अधिक होने के कारण इसे पीछे हटना पड़ा। फरवरी 1928 में दिल्ली में होने वाली ऑल पार्टी कान्फ्रेंस में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व एक टेढ़ी खीर बना रहा। इसी बीच हिन्दू महासभा ने अपने जबलपुर अधिवेशन में सभी गैर-हिन्दुओं के धर्म परिवर्तन की माँग की तथा हिन्दू साम्प्रदायिक नेताओं ने नये मुस्लिम बहुसंख्यक प्रान्तों के निर्माण एवं पंजाब और बंगाल में मुस्लिम सीटों के आरक्षण का जमकर विरोध किया। नेहरू रिपोर्ट में हिन्दू महासभा के विचारों को काफी रियायत दी गई। इसमें यह प्रस्तावित किया गया कि सभी क्षेत्रों में केवल संयुक्त निर्वाचन क्षेत्र होंगे, सीटों का आरक्षण केवल केन्द्रीय विधानमण्डल तथा मुस्लिम अल्पसंख्यक प्रान्तों में होगा, सिन्ध को बम्बई से पृथक् करने का निर्णय भारत को डोमिनियन स्टेटस मिलने तथा हिन्दू अल्पसंख्यकों का अनुपातिक प्रतिनिधित्व निश्चित करने के बाद किया जायेगा। देश का राजनीतिक ढाँचा एकात्मक होगा तथा अवशेष शक्तियाँ केन्द्र के पास रहेंगी। एकता बनाये रखने के अन्तिम प्रयास में जिन्ना ने अपील की कि सिन्ध को अलग प्रान्त देने का दर्जा, अवशेष शक्तियाँ प्रान्तों के पास, केन्द्रीय विधानमंडल में 1/3 मुस्लिम प्रतिनिधित्व तथा पंजाब/ बंगाल में आरक्षित सीटों की माँगों को मान लिया जाए। परन्तु ऑल पार्टी कान्फ्रेंस ने जिन्ना के इस अनुरोध को ठुकरा दिया। जिन्ना ने इसे 'रास्ते अलग-अलग होना' का नाम दिया। परिणामस्वरूप सभी मुस्लिम साम्प्रदायिक गुट इकट्ठे हो गये तथा उन्होंने एक प्रपत्र तैयार किया जिसे जिन्ना का '14 सूत्रीय कार्यक्रम' का नाम दिया गया। यह प्रपत्र भविष्य में होने वाले सभी समझौतों का आधार बन गया।⁶

1930 के बाद मुस्लिम बुद्धिजीवी वर्ग का एक गुट भारत में एक स्वतंत्र मुस्लिम राज्य की स्थापना की कल्पना करने लगा। इसके लिए वैचारिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि अलीगढ़ आन्दोलन, मुस्लिम लीग की स्थापना तथा मिन्टो-मोर्ले सुधारों में मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों जैसी गतिविधियों ने पहले ही तैयार कर दी थी। 1930 में प्रसिद्ध उर्दू शायर तथा दार्शनिक मोहम्मद इकबाल ने मुस्लिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए कहा, 'मेरी इच्छा है कि पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, सिन्ध तथा बलोचिस्तान को मिलाकर एक राज्य बना दिया

जाए। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत अथवा इसके बिना, उत्तर-पश्चिमी भारतीय मुस्लिम राज्य का निर्माण ही इनकी नियति है।' इकबाल ने भारत के अन्दर एक मुस्लिम राज्य की माँग उठाई। अलग मुस्लिम राज्य का विचार गोलमेज कान्फ्रेंस के समय रहमत अली के नेतृत्व में इंग्लैंड में कुछ मुस्लिम विद्यार्थियों ने भी दिया था। रहमत अली ने कान्फ्रेंस में मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल के सामने पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त या अफगान प्रान्त, कश्मीर, सिंध तथा बलोचिस्तान को मिलाकर मुसलमानों के लिए पृथक् स्वदेश की योजना पेश की। इस नये मुस्लिम राज्य को उसने पाकिस्तान का नाम दिया। उसके प्रस्ताव को मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल ने खास महत्व नहीं दिया। रहमत अली ने अपनी योजना के प्रचार के लिए 1933 में 'पाकिस्तान नेशनल मूवमेंट' की स्थापना की। परन्तु धीरे-धीरे पाकिस्तान का विचार तूल पकड़ने लगा। 1932 में ब्रिटिश सरकार की शह पर चौधरी मोहम्मद अली ने ब्रिटेन में बैठकर पाकिस्तान का नक्शा बनाया तथा इसे भारत भेजा। फजली हुसैन के अनुसार जिन लोगों ने 1930 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में पाकिस्तान के विचार को हवा दी, वे सभी बुद्धिजीवी लन्दन में ब्रिटिश खुफिया संस्थाओं द्वारा पोषित किये जा रहे थे। हालाँकि जिन्ना अभी इस दिशा में नहीं सोच रहा था परन्तु यह विचार उसके दिमाग में घर करने लगा था कि मुसलमान 'एक पृथक् समुदाय न होकर पृथक् राष्ट्रीयता है।' 1935 में राजेन्द्र प्रसाद से हुई चर्चा में जिन्ना के दृष्टिकोण की कुछ प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हुई जैसे—1 केवल मुस्लिम लीग ही मुसलमानों का एकमात्र राजनीतिक साधन है, 2. काँग्रेस का यह दावा गलत है कि यह भारत के सभी लोगों—चाहें वे किसी भी जाति, नस्ल अथवा संस्कृति के हों— का प्रतिनिधित्व करती है तथा 3. काँग्रेस एक हिन्दू संस्था है।⁶

मोहनदास करमचंद गाँधी, जो जल्द ही महात्मा गाँधी कहे जाने लगे, 1915 में दक्षिण अफ्रीका से वापस आए। उससे पहले भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन को ज्यूडिथ ब्राउन ने "सविचारित सीमाबंधियों की राजनीति" और रवींदर कुमार ने जनता के विपरीत "वर्गों का प्रतिनिधित्व करनेवाला एक आंदोलन" कहा है। मूलतः इन विशेषणों का अर्थ यह है कि उस समय तक राष्ट्रवादी राजनीति में भागीदारी पश्चिमी शिक्षा—प्राप्त पेशेवर लोगों के एक सीमित समूह की ही थी, जिनकी नई कुशलताओं ने उन्हें इस काबिल बनाया था कि प्रशासनिक पदों, जिला बोर्डों या विधायिकाओं की सीटों के रूप में अंग्रेजी राज ने जो अवसर पैदा किए थे, उनका लाभ वे उठा सकें। वे मुख्य रूप से कुछ विशेष जातियों और समुदायों, कुछ विशेष भाषायी और आर्थिक समूहों के लोग थे, जो अधिकतर तीन प्रेसिडेंसी नगरों (कलकत्ता, बंबई और मद्रास) में रहते थे। इन वर्गों को डी.ए.लो ने "ब्रिटिश शासकों के टहलुए" कहा है, जो भारत में, किसी दूरगामी आर्थिक या सामाजिक परिवर्तन में दिलचस्पी भी रखते थे तो बस जरा—सी रखते थे। उनका सरोकार अपने ही

वास्ते एक नए कुलीन समाज और संस्कृति की रचना से अधिक था और वे ब्रिटिश कुलीनवर्ग या मध्यवर्ग के विचारों और आदर्शों से प्रेरित थे।⁷ बंगाल में भद्रलोक, बंबई में चितपावन ब्राह्मणों या मद्रास के तमिल ब्राह्मणों जैसे इन समूहों को छोड़ दें, तो समाज के दूसरे हिस्से कांग्रेस की राजनीति में भाग लेने से हिचकते रहे, जैसे निचली जातियों के हिन्दू या मुसलमान, जमींदार, धनी और भूमिहीन दोनों तरह के किसान, और हर तरह के उद्योगपति। ये लोग बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रांत और बरार में तथा संयुक्त प्रांत और गुजरात में भी रहते थे जिनको, जहाँ तक कांग्रेस की राजनीतिक का सवाल है, "पिछड़े प्रांत" कहा जा सकता था। इसलिए उपनिवेशी सरकार इस बात पर चैन की साँसे लेती रही कि "एक अतिलघु अल्पमत" कांग्रेस को एक पिटी हुई दुकान की तरह चला रहा है।⁸

निष्कर्ष

कांग्रेस की इस आरंभिक राजनीति के लक्ष्य भी सीमित थे और उसकी उपलब्धियाँ अपेक्षाकृत मामूली थीं। 1907 के सूरत विभाजन के बाद नरमपंथी उपनिवेशी स्वशासन की मांग करते रहे, जबकि गरमपंथी पूर्ण स्वाधीनता की मांग करते रहे थे। देखने में उनके संगठन व्यक्तित्व पर केन्द्रित थे; एक ओर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पी.एम.मेहता या गोपालकृष्ण गोखले जैसी प्रमुख हस्तियाँ थीं, तो दूसरी ओर विपिन पाल, बाल गंगाधर तिलक और लाजपत राय थे। लोकचेतना में इन दोनों नेता-समूहों के बीच सिद्धांत या आस्था संबंधी कोई अंतर नहीं था और वे बस बेकार की बहसों में उलझते रहते थे। अपने-अपने घोषित उद्देश्यों को पाने में असफल रहने के कारण दोनों ही समूह अपनी साख खो चुके थे। नरमपंथियों की संवैधानिक राजनीति ब्रिटिश सरकार को प्रभावित करने में असफल रही और यह बात 1909 के मॉर्ले-मिंटो सुधारों से एकदम स्पष्ट थी। गरमपंथ मुख्यतः बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब तक सीमित रहा, जहाँ आतंकवाद के आरंभ ने सरकार को दमन का बहाना दिया। उम्रकैदों और लंबी सजाओं ने उनके नेतृत्व की कतार को तोड़ दिया तथा आंदोलन को भूमिगत होने व जनता से और भी कट जाने पर मजबूर कर दिया। तिलक जैसे गरमपंथी नेता जब जेल में थे, तो नरमपंथी वर्चस्व वाली कांग्रेस पूरी तरह निष्क्रिय हो गई। दूसरे शब्दों में, 1915-17 तक राजनीति की ये दोनों धाराएँ एक अंधी गली में फँस चुकी थीं और जब इन राजनीतिज्ञों का सामना गांधी से हुआ, तो उन लोगों के पास जोड़तोड़ की बहुत कम गुंजाइश बची थी।

इसके विपरीत भारतीय राजनीति के एक नए खिलाड़ी के रूप में उभरे गांधी के ऊपर इन समूहों की असफलता का कोई कलंक नहीं था। राजनीतिक यथास्थिति से उनके निहित स्वार्थ जुड़े हुए नहीं थे और इस कारण वे पश्चिमी

शिक्षा-प्राप्त कुलीनों से जनता की ओर शक्ति के किसी भी हस्तांतरण का स्वागत करने के लिए अधिक तैयार थे। भारतीय समाज की बहुलवादी प्रकृति पर उनकी एक स्पष्ट समझ थी, पर वे एकजुट भारत के आदर्श के प्रति समर्पित थे। नरमपंथियों और गरमपंथियों के अंतहीन झगड़ों से कुंठित नौजवान भारतवासियों के सामने उन्होंने एक बिल्कुल नया और ताजा विकल्प प्रस्तुत किया।

सन्दर्भ सूची:-

1. आयशा जलाल, "एक्सप्लोडिंग कम्युनलिज्म" इन एस वोस एण्ड आयशा जलाल (एडिटेड) नेशनलिज्म, डेमोक्रेसी एण्ड डवेलपमेंट : स्टेट एण्ड पॉलिटिक्स इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड, न्यू दिल्ली, 1997, पृ. 80.
2. एन. जयपालन, द ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑफ कम्युनलिज्म, पूर्वोक्त, पृ. 112.
3. ब्राउन, ज्युडिथ, गाँधीज राईज टू पावर : इंडियन पॉलिटिक्स, 1915-1922, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1972, पृ.28
4. रविन्द्र कुमार, एस्से इन गाँधीयन पॉलिटिक्स : रॉलेट सत्याग्रह ऑफ 1919, क्लारेंडन प्रेस, आक्सफोर्ड, 1971, पृ. 4
5. लो. डी.ए. साउंडिंग्स इन मॉडर्न साउथ एशियन हिस्ट्री, निकोलसन, लंदन, 1968, पृ. 1
6. जे. पुष्पादास, चम्पारण एण्ड गाँधी : प्लान्टर्स, पिजेन्ट्स एण्ड गाँधीयन पॉलिटिक्स, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू दिल्ली, 1999
7. राजेन्द्र प्रसाद, आत्मकथा, पटना, 1947, पृ. 104
8. के.के. दत्त, हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन बिहार, बिहार गवमेंट प्रेस, पटना, 1957, खण्ड, 1, पृ. 228.

XXXX